P: ISSN NO.: 2394-0344 RNI No.UPBIL/2016/67980 VOL-3* ISSUE-11*(Part-1) February 2019
E: ISSN NO.: 2455-0817 *Remarking An Analisation*

ललित कला में अध्यात्म–चेतन का सौन्दर्यात्मक दर्शन

विजय कुमार
शोधार्थी, असिस्टेंट प्रोफसर
डिपार्टमेंट ऑफ ड्राइंग एण्ड पेन्टिंग,
दयालबाग एजुकेशनल इन्स्टीट्यूट,
दयालबाग, आगरा

सारांश

ईश्वर! जो प्रत्यक्ष न होते हुए भी प्रत्यक्ष होने का एहसास कराता है, जो हमारे चेतन मन को चेतनाओं से अवगत कराते हुये, सद्–बुद्धि के मार्ग को प्रशस्त करता है, तथा अध्यात्म से उन सभी पहलुओं को हमारे एन्द्रियों के अनुलोम–विलोम को एकाग्रचित करके हमें चेतना प्रदान करता है, जिसके कारण हम स्वंय को भौतिक समाज में उस चेतन शक्ति के समीप पाते है। वैसे तो 'कला' एक ऐसा शब्द है जो सभी प्राणियों में देखने को मिलता है लेकिन यह कला किस प्रकार व्यक्त होती है। यही वह मायने है जो हमारी ऐन्द्रियों से और परिपक्व होती है, वैसे तो हम प्रकृति का अनुकरण (नकल) नहीं कर सकते लेकिन कला के सौन्दर्य से हम प्रकृति के और करीब हो सकते है। यह हमारी चेतन शक्ति पर निर्भर करती है।

मुख्य शब्द : ग्रन्थ, अध्यात्म, चेतन, सौन्दर्य, ललित कला, सृजन, कलाकार।

प्रस्तावना

प्राचीन साहित्य 'शिव–स्वरूपविमर्शिनी' में कला का प्रयोग ललित कला के अर्थ में हुआ है। क्षेमराज ने लिखा है –

'कलयति स्वरूपभावेशयति वस्तुनि वा।
तत्र–तत्र प्रमातरि कलनमेव कला।।'

अर्थात् नव स्वरूपसंवित् वस्तुओं में या प्रमाता में स्व को, आत्मा को परिमित करती है–इसी क्रम का नाम कला है। 'कला' शब्द का प्रमाणित प्रयोग भरत के नाट्यशास्त्र में दिखायी पड़ता है–

न तज्ज्ञानं, न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।

'अध्यात्मविधा विधानाम्' कह कर गीता में अध्यात्म को विधाओं में सर्वश्रेष्ठ स्थान दिया गया है। कला को कार्य कुशलता व विद्या को ज्ञान मानकर शास्त्रकारों ने दोनों को वर्गीकृत किया है किन्तु कला सर्जन में सैद्धान्तिक ज्ञान की आवश्यकता को एवं अध्यात्म में (तथा अन्य विधाओं में भी) आचरण योग (योगः कर्मसु कौशलम्। (योगः चित्रवृत्ति निरोधः) की आवश्यकता को देखकर स्पष्ट है कि यह वर्गीकरण शास्त्र शुद्ध नहीं है। 'प्रश्नोपनिषद' (6/2–3–4) में परमेश्वर के प्रकट स्वरूप सृष्टि रचना के सोलह मूल तत्वों का उल्लेख किया गया है व उनको सोलह कलाएँ कहा गया है। इस प्रकार 'पाणिनी' के पूर्व काल में– उपनिषद में भी व्यापक अर्थ से कला शब्द का प्रयोग हुआ है। उपनिषद के अनुसार सृष्टि रचना की ये कलाएँ है – प्राण (आत्मा), श्रद्धा (आस्तिक बुद्धि), 5 पंचमहाभूत (शरीर), मन, इन्द्रियों (5 ज्ञानेन्द्रियों व 5 कर्मेन्द्रियाँ), अन्न (संधारण), तप (संयम), वीर्य (बल), मंत्र (आचार संहिता), कर्म (कर्तव्य), लोक (समाज), नाम (ऊँ मूर्त रूप)।

कला का उद्देश्य जीवन के लिए है। वह उद्देश्यहीन साधना नहीं। 'दिव्यावदान' के विचारशील लेखक ने यही भाव प्रकट करते हुए लिखा है कि कला के अभिप्राय शोभा एवं जीवनरक्षा दोनों के लिए होते हैं–

सुदर्शननगरे एकोनद्वारसहस्त्रं देवानां (रूपाणि) आरक्षणार्थम् इत्यर्थम् शोभनार्थम्।

बुद्ध भगवान कर्म का सार मानसिक संकल्प अथवा कर्म करने का मानसिक निर्णय मानते थे, जिसे 'चेतना' कहा जाता था। 'भिक्षुओं' मैंने चेतना को कर्म कहा है; चेतना–पूर्वक कर्म किया जाता है, शरीर से, वाणी से, मन से। 'अभिधर्म कोश' में भी कर्म की परिभाषा 'चेतना' अैर 'चेतयित्वाकरण' दी गयी है। नागार्जुन (मध्यम कण्डिका 17.2–3) ने भी कहा है –

'चेतना चेतयित्वा च कर्मोक्तं परर्षिणा।
तस्यानेकविधो भेदः कर्मणः परिकीर्तितः।।
तत्र यच्चेतनेत्युक्तं कर्म तन्मानसं स्मृतम्।
चेतयित्वा च यन्तूक्तं तन्तु कायिकवाचिकम्।।

चेतना की इसी निरपेक्ष स्वतंत्रता के सन्दर्भ में ही सार्त्र कला एवं कला वस्तु के स्वरूप को रेखांकित करते है। सामान्यतः तो हम कला वस्तु में कैनवास पर अंकित आकृतियों एवं रंगों, उनके चयन पर ही बल देते है और उन्हें ही कलावस्तु की संज्ञा देते है। पर हमारा ऐसा सोचना सर्वथा भ्रामक है, जो दृष्टि कला एवं कलावस्तु को यथार्थवताओं से ही जुड़ा मानती है, वह उसके स्वरूप के साथ न्याय नहीं कर पाती। वस्तुतः कला का सम्बन्ध यथार्थ बोध से है ही नहीं। वह तो तभी जन्म लेती है जब हमारी चेतना यथार्थ का निषेध करते हुए, यथार्थ बोध से अपने को पूर्णतः मुक्त करते हुए, अपने को इस प्रकार रूपान्तरित कर लेती है कि वह शुद्ध काल्पनिक हो जाती है। तभी जिन रूपों का वह सृजन करती हैं; वे ही शुद्ध कलात्मक होती है और उन्हीं से, भीतर से नियंत्रित होते हुए कलाकार यथार्थताओं के सहारे उन सादृश्यताओं को सृजन करता है, जिसे कलावस्तु की संज्ञा देते है।

अध्ययन का उद्देश्य

इस शोध पत्र में, मैं अध्यात्म–चेतन के उस परिवेश को उजागर करने का प्रयत्न करूगाँ, जिसका ललित कला का सौन्दर्य, ही निजत्व है। स्वकथनानुसार (विजय) अनुसार– 'अध्यात्म का सम्बन्ध कलाकार के चेतन शक्ति का निरूपण है। कलाकार कला का निरूपक होता है। वह आदिदृष्टा होता है, जो कला का निरूहण करके, उसे निरूप्य करता है।' ललित कला के माध्यम से कलाकार उस चेतन शक्ति को प्राप्त करने का प्रयास करता है, जो अनन्त व असीमित है। जो सागर की गहराई से भी गहरी व दृष्टि की पहुँच से परे है। ऐसे में कलाकार का ललित कला द्वारा अभिव्यक्ति ही एक मात्र माध्यम है, जो निराकार को साकार करता है।

साहित्यावलोकन

भारत के प्राचीनतम् शास्त्रीय ग्रन्थो में कला की आराधना आध्यात्मिक उन्नति के लिए की गयी और कला के प्रतीकात्मक प्रतिमानों के द्वारा परमेश्वर की प्राप्ति एवं आध्यात्मिक उन्नति का मार्ग सुझाया गया है। 'कला' शब्द का प्रयोग ऋग्वेद, शतपथ ब्राह्मण, षडविंश ब्राह्मण, सांख्यान ब्राह्मण तथा अथर्ववेद आदि ग्रन्थों में हुआ है।

शोध पत्र

रूपाकृति का अर्थ है, सौन्दर्य का गोचर रूप, जिसके अनेक दृष्टि ग्राह्य तथा कल्पना ग्राह्य तत्वों का उल्लेख पाश्चात्य कलाविदों ने किया है। ये गुण हैं आकार, सममिति, अनुपात, वैचित्र्य, विविध्य, वर्ण, दीप्ति और इन सब में अन्तर्प्याप्त अन्विति (परस्पर संबद्धता)। कला का कार्यात्मकता की दृष्टि से विचार नहीं करना चाहिये। कला पूर्णरूप से सहज ज्ञान व अन्तर्मन की क्रियाओं पर निर्भर है। लय कला की आत्मा है एवं उसकी सहज सिद्ध अनुभूति कला निर्मिति की प्राथमिक आवश्यकता है। मनुष्य की आध्यात्मिक सत्ता की रहस्यात्मक अनुभूति, प्राकृतिक सत्ता के पीछे जो रहस्य है, उसे जानने की उत्सुकता प्रत्येक व्यक्ति में होती है और इस सत्ता की जो अनुभूति होती है, उसकी अभिव्यक्ति ही कला है।

कला का सामान्य अर्थ है, भावना (अनुभूति–विचार) की गोचर, अर्थात् मूर्त उपकरणों के माध्यम से अभिव्यक्ति। इस प्रकार भावना का सौन्दर्य के साथ अनिवार्य सम्बन्ध है। जैसा कि 'कैरिट' ने अपनी लोकप्रिय पुस्तक 'एन इन्ट्रोडक्शन टु ऐस्थेटिक्स' के परिशिष्ट में आरम्भ से लेकर आधुनिक काल तक के कला–चिंतकों के उदाहरण देकर सिद्ध किया है। कला अथवा सौन्दर्य मुख्यतः भावना की ही अभिव्यक्ति का नाम है। भावना के स्पर्श से ही विचार समृद्ध बनता है। कल्पना सक्रिय होती है और भावना के स्पर्श से ही कला में प्रीति–तत्व का समावेश होता है, जिसे मर्मज्ञों ने रमणीय अर्थ कहा है।

प्रत्ययीकृत पुनः प्रत्यक्ष (आइडियलाइज्ड रिप्रेजेण्टेशन) में ललित कलाओं का सौन्दर्य–बोध छिपा हुआ है। अतः 'सुन्दर' की अभिव्यक्ति या 'सौन्दर्य' का विवर्द्धन कला का उद्देश्य है। वास्तविकता यह है कि कला में हमें सृष्टा (कलाकार) की चेतना के मुग्ध संवेग का समग्र मानव–चेतना तक आशु संक्रमण मिलता है और यह संक्रमण सौन्दर्य–स्फूर्ति के सहारे निष्पन्न होता है। ललित कला (चारू कला) की तरह उपयोगी कलाओं (कारू कला) में भी सौन्दर्य–बोध का महत्व है। वस्तुतः प्रत्येक कला कलाकार की मनःस्थिति अथवा आत्मानुभूति का आन्तरिक अंश है। सौन्दर्य पदार्थ नहीं, पदार्थ का गुण है, किन्तु वह भौतिक तत्व अथवा भौतिक तत्वों का संश्लेष न होकर पदार्थ का प्रतीयमान या गोचर रूप है, जिसका आविर्भाव प्रमाता (चेतन पुरुष) की चेतना के सन्निकर्ष (सम्बन्ध) से होता है। प्रत्येक पदार्थ का गोचर रूप सुन्दर नहीं होता। सौन्दर्य का आधार–सूत्र है, संरचना की प्रत्यक्ष–अप्रत्यक्ष या सरल अथवा सूक्ष्म–जटिल अन्विति, जो प्रमाता के ऐन्द्रिय–मानसिक संवेदनों में सामंजस्य स्थापित कर उसकी चेतना का प्रसादन करती है।

सौन्दर्य के दो आधार होते हैं– प्रथम प्रकृति और द्वितीय कला। सौन्दर्य के दो पक्ष माने जाते है– भाव पक्ष और रूप पक्ष। भाव पक्ष का सम्बन्ध सौन्दर्य की चेतना, अनुभूति या आस्वाद से है, और रूप का सम्बन्ध उसके वस्तुगुण से है। अपने मनोगत भावों को सौन्दर्य को साथ दृश्य रूप में व्यक्त करना ही कला है। आचार्य 'क्षेमराज' के अनुसार 'अपने (स्व) किसी न किसी वस्तु के माध्यम से व्यक्त करना ही कला है और यह अभिव्यक्ति चित्र, नृत्य, मूर्ति, वाद्य आदि के माध्यम से होती है।' इस प्रकार कला मनुष्य की सौन्दर्य भावना को मूर्तरूप प्रदान करती है। वस्तुतः कला का उद्गम सौन्दर्य की मूलभूत प्ररेणा का ही परिणाम है। प्रत्येक कलात्मक प्रक्रिया का उद्देश्य सौन्दर्य तथा आनन्द की अभिव्यक्ति होता है।

'अरस्तु' का कथन है कि– 'मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है'। इस रूप में उसे अपनी भावनाओं तथा विचारों का प्रत्यक्षीकरण करना पड़ता है। यह प्रत्यक्षीकरण अथवा प्रकटीकरण कला के माध्यम से ही सम्भव है। प्राचीन भारत में कला को साहित्य और संगीत के समकक्ष मानते हुए मनुष्य के लिये उसे आश्वयक बताया गया है। 'भर्त्तृहरि' ने अपने नीतिशतक में स्पष्टतः लिखा है कि 'साहित्य, संगीत तथा कला से हीन मनुष्य पूँछ और सींग से रहित साक्षात् पशु के समान है–

साहित्यसंगीतकला विहीनः।
साक्षात्पशुः पुच्छविषाणहीनः।।

भारतीय परम्परा में कला को लोकरंजन का समानार्थी निरूपित किया गया है, चूँकि इसका एक अर्थ कुशलता अथवा मेधाविता भी है, अतः किसी कार्य को सम्यक् रूप से सम्पन्न करने की प्रक्रिया को भी कला कहा जा सकता है। जिस कौशल द्वारा किसी वस्तु में उपयोगिता और सुन्दरता का संचार हो जाये, वही कला है। प्राचीन काल में कला का स्वरूप मुख्यतः धार्मिक होने से उसका अध्यात्म से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा, विशेषतया भारतीय बौद्ध व राजपूत कलाओं में। आधुनिक कला में भी कुछ कला प्रवाह आत्मिक जीवन के विश्वास पर आधारित है। अतः कला का ज्ञान से पृथक रूप में विचार अपूर्ण हो जाता है व कला का अध्ययन भी अन्ततः ज्ञान की एक शाखा के रूप में करना पड़ता है।

भारतीय कला में मूर्त रूप का पर्याय गौरव है। ललित कला में समाविष्ट पाँच कलाओं– चित्रकला, मूर्तिकला, वास्तुकला, संगीत कला एवं काव्य कला, इन सब रूपों में सौन्दर्य और सरलता का आवाह्न आवश्यक है और यह तभी सफल हो सकता है, जब सृष्टा का चेतन मन एक आध्यात्मिक योग साधना में लीन योगी जैसा हो–

यस्यैव कल्पनाहींन स्वरूपग्रहणं हि यत्। मनसा ध्याननिष्पाद्यं समाधिः सो भिधीयते।। (विष्णुपुराण 6/7/92)

कला के प्रारूप में अनेकों कलाएँ जन्म लेती है, इसी एक कला में मानव अपने आप को सिद्ध करता है। यजुर्वेद के 30वें अध्याय में 64 कलाओं का सर्वप्रथम उल्लेख मिलता है, जिसमें 'वात्स्यायन' ने अपने कामसूत्र (की टीका) में नाटकाख्यायिकादर्शनम् (नाटक एवं आख्यानों का श्रवण दर्शन) की कला हो या हस्तलाघवम् (हाथ की सफाई) की कला आदि कलाओं का उल्लेख किया हैं। वात्स्यायन ने आलेख्यम् (चित्रकारी) को चौथे स्थान पर रखा है। कामसूत्र में आलेख्यम् (चित्रकारी) की कला साधना को भी महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है।

कला की परिभाषा कामसूत्र में अलग से उपलब्ध नहीं है। कला के बारे लिखा है कि–'कोई भी क्रिया जिसके पीछे सृजन प्रक्रिया या चमत्कार हो अथवा विशेषता हो, वह कला है।' इस प्रकार इसके अर्न्तगत जीवन के प्रत्येक क्रिया–कलाप कला के अर्न्तगत आ गये है। कला से अभिप्राय ऐसा कौशल या हुनर है, जिसके द्वारा जीवन में सौन्दर्य व समृद्धि का संचार होता है, व्यक्तित्व का संस्कार तथा चित्त का प्रसाधन होता है।

रूपभेदाः प्रमाणानि भावलावण्ययोजनम्।
सदृश्यं वर्णिकाभंग इति चित्रं षडंगकम्।।

चेतन–अचेतन, उत्पति–निवृत्ति इसी के छन्द में विश्व बधाँ है। इसी प्रकार जीवित रूप और निर्जीव रूप, इसी की लय में हमारा षंडग मिलाया हुआ है। वस्तु रूप चेतना से कब और कहाँ सजीव है, चेतना के अभाव से कहाँ वह म्रियमाण है। यही हमारे षडंग का मूल मन्त्र है। शिल्पी तूलिका की लगाम की तरह खींचकर अपनी कामना को प्रभावित करते हुए, विश्व चराचर के साथ रचे गये, चित्र में स्वयं को भी एक आकृति में बाँधता चला जाता है। चित्र के साथ जो चित्र देखता है, जो चित्र बनाता है तथा जिन्हें चित्र में चित्रित करता है, उनके परस्पर प्राणों का परिचय कराना षडंग साधना का चरम लक्ष्य है।

'भोज (1010–105) ने 'समरांगणसूत्रधार' में भी इसी बात की पुष्टि करते हुए बताया गया है कि चित्र सभी शिल्पों का मुख एवं संसार का प्रिय है–

चित्रं हि सर्व शिल्पानां मुख लोकस्य च प्रियम्।

भारतीय चित्रकला हमेशा धर्म की सहचरी रही है। धर्म के प्रत्येक कार्य व्यापार में चित्रकला का सक्रिय योगदान रहा है। वैष्णव मत में चित्र रचना को विशेष महत्व दिया गया और चित्र दर्शन की भक्ति का एक अंग बताया गया है। बौद्ध धर्म में धर्म के व्याख्याता के रूप में उसका समादर किया गया। यहीं नहीं, बौद्ध धर्म के प्रचार–प्रसार में उसने बहुत महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। जैन धर्म के पोथी चित्रण में इसका सक्रिय योगदान रहा। भारतीय धर्म, लोक विश्वास और आन्तरिक अभिव्यक्ति को सर्वाजनीन एवं सर्वकालिक बनाने के लिए इसने एक भाषा के रूप में कार्य किया।

'अमर कोश' में लिखा है– 'चीयते इति चित्रम्' (चित्रम्–चिनौति, चीयते वा। चि+का प्रत्यय) अर्थात चित्रकार के चयन की स्वाभाविक परिणति करने वाली अकृत्रिम् षडंग–माला ही चित्र है। 'शिल्परत्नम्' में लिखा है– 'चित्र रति यत् चित्रम्' अर्थात् जो चित्र आनन्दित करता है, वही वस्तुतः चित्र है, और यह आनन्द 'रस' से उत्पन्न होता है– 'रसो वै सः' यह आत्मा का संसार करता है– 'आत्मानं संस्कृरूते' यह आत्मा अगर पट, भित्ति या फलक किसी पर भी चित्रित या आधिष्ठित रहता है, तब एक मात्र वही चित्र है। आत्मा आत्मीयता के लिए व्याकुल रहते है। चारों ओर के वातावरण की आत्मीयमा में अपने को प्रकट करने के लिए उसमें (आत्मा में) एक विशाल अभिव्यक्ति की वेदना या व्याकुलता उदित होकर निरन्तर कार्यरत रहती है। इस व्याकुलता के उदय होने पर उस चित्रकार की अभिव्यक्ति या रचना 'चित्र' है। अतः रस कला की आत्मा होती है। यह वह आध्यात्म गुण है, जिसमें कृति का स्थायी मूल्य निहित रहता है। मनुष्य का मन भावों का समुद्र है। भावों की समष्टि से ही रस का उदय होता है। मनुष्य के मन में जो विभिन्न प्रकार के भाव जन्म लेते हैं, कला और काव्य द्वारा व्यक्त किया जाता है। काव्यशास्त्र के पण्डित आलंकारिको के अनुसार काव्य में आठ या नौ रस माने है, जिसके पृथक–पृथक भाव है। कलाकृति से रसिक के मन में भावों का उद्वेग होता है। कवि और कलाकार सर्वप्रथम अपने मानस में रस या भाव विशेष की आराधना करते है और फिर उसे शब्द या रूप के द्वारा स्थूल या अपनी चेतना के माध्यम से व्यक्त करते हैं।

उदाहरणस्वरूप– 'महाकवि कालिदास' कृत 'अभिज्ञानशाकुन्लम्' के षष्ठम् अंक में सौन्दर्यत्मकता का वर्णन राजा दुष्यन्त द्वारा अपनी चेतन शक्ति से शकुन्लता की विरह वेदना में चित्र बनाना एक बहुमुखी चित्रकार के अन्तर्मन को प्रस्तुत किया है। राजा, शकुन्तला के चित्र में हुयी त्रृटीयों को शकुन्तला के पसन्द को सौन्दर्यमयी ढंग से बनाना चाहते है, इसका संवाद इस प्रकार है–

(प्रविश्यापटीक्षेपेण चित्रफलकहस्ता)

चतुरिका– इयं चित्रगता भट्टिनी। (इति चित्रफलकं दर्शयति।)
विदूषकः– (विलोक्य) साधु वयस्य। मधुरावस्थानदर्शनीयो भावानुप्रवेशः। स्खलतीव मे दृष्टिर्निम्नोन्नतप्रदेशेषु।
सानुमती अहो, एषा रार्षेर्निपुणता। जाने सख्यग्रतो मे वर्तत इति।
राजा– यद्यत् साधु न चित्रे स्यात् क्रियते तत्तदन्यथा।
तथापि तस्या लावण्यं रेखया किंचिदन्वितम्।।
सानुमती– सदृशमेतत् पश्चात्तापगुरोः स्नेहस्यान वलेपस्य च।
विदुषकः– भोः, इदानीं तिस्त्रस्तत्रभवत्यो दृश्यन्ते। सर्वाश्च दर्शनीयाः। कतमाऽत्र तत्रभवती शकुन्तला?
सानुमती– अनभिज्ञः खल्वीदृशस्य रूपस्य मोघदृष्टिरयं जनः।
राजा– त्वं तावत् कतमां तर्कयसि।
विदूषकः– तर्कयामि यैषा शिथिलबन्धनोद्वान्तकुसुमेन
केशान्तेनोद्भिन्नस्वेदबिन्दुना वदनेन
विशेषतोऽपसृताभ्यां
बाहुभ्यामवसेकस्निग्धतरूणपल्लवस्य चूतपादस्य पार्श्व ईषत्परिश्रान्तेवालिखिता सा शकुन्तला। इतरे सख्याविति।
राजा– निपुणो भवान्। अस्त्यत्र मे भावचिह्नम्। स्विन्नङ्गुलिविवेशो रेखाप्रान्तेषु दृश्यते मलिनः। अश्रु च कपोलपतितं दृश्यमिदं वर्णिकोच्छ्वासात्।।
चतुरिके, अर्धलिखितमेतद् विनोदस्थानम्। गच्छ, वर्तिकां तावदानय।
चतुरिका– आर्य माधव्य अवलम्बस्व चित्रफलक यावदागच्छामि।
राजा–अहमेवैतदवलम्बे। (इति यथोक्तं करोति)। (निष्क्रान्ता चेटी।)
राजा– (निःश्वस्य) अहं हि–
साक्षात् प्रियामुपगतामपहाय पूर्वं, चित्रार्पितां पुनरिमां बहुमन्यमानः।
स्त्रोतोवहां पथि निकामजलामतीत्य, जातः सखे प्रणयवान्मृगतृष्णिकायाम्।।
विदुषकः– (आत्मगतम्) एषोऽत्रभवान् नदीमतिक्रम्य मृगतृष्णिकां संक्रान्तः। (प्रकाशम्) भोः अपरं किमत्र लेखितव्यम्?
सानुमती– यो यः प्रदेशः सख्या मेऽभिरूपस्तं तमालेखितुकामो भवेत्।
राजा– श्रूयताम्
कार्या सैकतलीनहंसमिथुना स्त्रोतोवहा मालिनी, पादास्तामभितो निषण्णहरिणा गौरीगुरोः पावनाः।
शाखालम्बितवल्कलस्य च तरोर्निर्मातुमिच्छाम्यधः, श्रृङ्गे कृष्णमृगस्य वामनयनं कण्डूयमानां मृगीम्।।

मनुष्य को जिस वस्तु का ज्ञान होता है, उसकी वह रचना करता है, वह उसे एक मूर्ति का रूप प्रदान करता है। मूर्ति का ध्यान हमारे चेतन मन के लिए आवश्यक है। बिना मूर्ति के मन क्षण भर भी रिक्त नहीं रहता। चित्र में अंकित मूर्ति, चित्र का भी रूप हो सकता है। चित्रकार या शिल्पी के मन में जो मानसी सृष्टि होता है। उससे ही शिल्प और चित्र का जन्म होता है। जो कुछ यहाँ है, वह सब देव का मूर्त रूप है (मूर्तमेतद् हरेः रूपम्)। सूर्य और चन्द्र, नक्षत्र और ग्रह, मनुष्य और पशु, पवर्त, नदियाँ और समुद्र वृक्ष और वनस्पति, जड़ और चेतन जितना भी कला का विषय है, कलाकार के लिए सबकी आराधना मन के द्वारा आवश्यक है।

यह विश्व जिसका कर्म है, उसे विश्वकर्मा कहा गया है और उसके आधार पर प्रजापति के विश्वकर्मा, रूप की कल्पना की गई। भवनों के रचने वाले को 'भौवन विश्वकर्मा' कहा गया है। ब्रह्म उ स वृक्ष आस यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः। वास्तु विधान सदैव सृजना के प्रति अर्पित रहा है। कभी पृथिवी पर बड़े–बड़े अरण्य होते थे। ऐसे आरण्यों की अधिष्ठात्री देवी 'अरण्यानी' मानी गई , जो अपने जंगलो ं में झंकारते नूपूरों से स्वच्छन्द विचरण करती है और एक सौन्दर्यमयी जांगल प्रदेश से दूसरी ओर चली जाती है और गाँवों की ओर देखती भी नहीं। इन्ही गाँवों में वास्तुशास्त्रीय रूप का निर्माण होता है। ऋग्वेद में रूपों के निर्माण का प्रायः उल्लेख आता है।

रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूवः, इन्द्रो मायाभिः पुरूरूप ईयते। ऋग्वेद मायाभिः पुरूरूप ईयते। ऋग्वेद 6/47/18।

सौन्दर्यमय शिल्प के रचियता का सुरूपकृत्नु कहा गया है। सौन्दर्य की अधिष्ठात्री देवी की संज्ञा 'श्री' थी। उसी की सहचारिणी 'लक्ष्मी' थी। दोनों मिलकर कालान्तर में देवी श्री लक्ष्मी के रूप में विकसित हुई। देवी श्री लक्ष्मी को भारतीय कला के मूर्त सौन्दर्य की अधिष्ठात्री देवी कहा जा सकता है। देवी श्री की पूजा और मान्यता वैदिक युग से लेकर आज तक चली आ रही है।

वास्तुविधान में सौन्दर्य की पराकाष्ठा बताने के लिए उसकी तुलना व्याहली बहू से की गई है। वधूमिव ते शाले। अर्थवेद 9/3/35। आज तक लोक में भी ऐसी उक्ति प्रसिद्ध है–लिया पुता घर दियै, ओढ़ी पहरी धनि दियै।

वैदिक युग में विशेष शिल्पों में तक्षा, कर्मार, इषुकार, धनुष्कार, कुम्भकार महत्वपूर्ण पेशे भी थे। संगीत और नृत्य का भी अभ्यास किया जाता था। इनकी गणना शिल्पों में थी, जैसा जातकों और अष्टाध्यायी में कहा है।

मानव जीवन में संगीत कला आत्मा समान है। जब कलाकार अपने चेतन मन से किसी सुर का वादन करता है, तो वातावरण, सौन्दर्यमयी हो जाता है और श्रोता के मन को भी उद्वेलित कर के उस असीम आनन्द की प्राप्ति करता है, जहाँ तक उसका चेतन मन अपनी पराकाष्ठा तक पहुचँ सकता है। यह एक ऐसा माध्यम है, जो मानव जीवन में एक कर्णप्रिय व शक्ति सम्पन्न तरंगों का संचार करता है।

वैदिक युग से ही संगीत का स्थान मानव जीवन में स्थान बना चुका है। सामदेव, संगीत का मूल ग्रन्थ माना जाता है। रामायण, महाभारत में वाद्य यन्त्रों के बारे में भी जानकारी प्राप्त होने लगती है, जैसे– भेरी, दंदभि,

वीणा, मृदंग व घड़ा इत्यादि। बाँसुरी एक ऐसा वाद्य यन्त्र है, जिसके स्वर से प्रेमी अपने प्रेयसी को रिझाते है। जब भगवान कृष्ण अपनी बाँसुरी से राग छेड़ते थे, तब वहाँ का वातावरण सौन्दर्यमयी वा रति प्रेम में डूब जाता था। चौथी शताब्दी में भरत मुनी ने नाट्यशास्त्र के छः अध्यायों में संगीत पर ही चर्चा की है। 12वीं शताब्दी में संगीतज्ञ जयदेव ने गीतगोविन्द नामक संस्कृत ग्रन्थ लिखा था। 18वीं शताब्दी में श्री निवास पण्डित ने राग तत्व विबोध और राग लक्षण जैसे– ग्रन्थों की रचना कर के संगीतमयी संसार में एक और तारा जोड़ दिया। संगीत का सम्बन्ध अधितर सन्त कवियों से रहा है। जो आज भी अपने प्रयास से एक घराने तो कोई स्वर को रूप दे रहा है। यह तभी सम्भव हो पाता है, जब संगीत में लीन होकर अपने अर्न्तमन को उस परमात्मा के चरणों में रखकर ताल देता है।

संगीत ऐसा विषय रहा है, जिस को महान राजाओं ने अपनाकर अपने आत्मा को आनन्दित करने का प्रयास किया करते थे। ऐसे में हम महान विजेता सम्राट समुद्रगुप्त के संगीत प्रेम व उसके प्रति समर्पण की भावना उनके ही मुद्रा (सिक्के) पर देख सकते है। जिसमें समुद्रगुप्त (335ई.–375ई.) को वीणा बजाते हुए दिखाया गया है।

'उज्जवलनील मणि' में सौन्दर्य के बारे में कहा गया है कि– चित्र में सौन्दर्य का होना अति आवश्यक है–

मुक्ताफलेषुच्छायायास्तरलत्वभिवान्तरा।
प्रतिभाति यदङेग्षु तल्लावण्यमिहोच्यते।।

आज का कलाकार 'अभिव्यक्ति' के सौन्दर्य के प्रति संवेदनशील होता है, रूप–रंग का सौन्दर्य पारस्परिक कलाकार का विषय रहा है। अभिव्यक्ति का 'सौन्दर्य' रूप–रंग के सौन्दर्य से कहीं गहन माना गया है। अधिकतर आधुनिक कलाकार कला को आत्मिक आनन्द की प्राप्ति का साधन मानते हैं। अब कुछ विद्वानों व कलाकारों के कला व कलाकार के समाज के प्रति उत्तरदायित्व के बारे में क्या विचार है, इस पर गौर करेंगे तो लियो टालस्टाय (1828–1910) के इस विषय पर विचार स्पष्ट है। उनके मतानुसार कला मानव भावनाओं की ऐसी अभिव्यक्ति है, जो दूसरों को समान रूप से प्रभावित कर सके। 'महात्मा गाँधी' की मान्यता थी कि जो 'कला आत्मा दर्शन' करने की शिक्षा नहीं देती वह कला नहीं है। भारतीय सौन्दर्य–दर्शन में यह मान्यता स्थिर है कि केवल आन्तरिक सृजन ही सुन्दर कहलाने योग्य है। पश्चिमी सौन्दर्य शास्त्री 'बेनेडये क्रोचे' (1866–1952) के सौन्दर्य–दर्शन में इसी उच्च स्तर की प्रतिध्वनि सुनाई देती है। आन्तरिक विचारों के बाह्य रूपान्तरों को 'सुन्दर' शब्द की संज्ञा दी जा सकती है। केवल जब इस आन्तरिक चित्र की बाह्य पुनरावृत्ति की जाती है, तभी सच्चा चित्र बनता है। कलाकार की उंगलियाँ आन्तरिक प्रतिभा से अपने आप प्रेरित होकर चित्र फलक पर चलती जाती है। रेखाओं और रंगों के माध्यम से मस्तिष्क में उदित विचार मूर्तरूप ग्रहण कर लेता है। किसी भी वस्तु का प्राथमिक ज्ञान उससे प्राप्त ऐन्द्रिय संवेदनाओं यानी रंग, आकार, ध्वनि, स्पर्श आदि से होता है।

कला के ऐन्द्रिय तत्वों के उपासक कलाकार की नैसर्गिक मानवीय भावनाएँ किस तरह बदल जाती है इस सम्बन्ध में प्रभाववादी चित्रकार 'मोने'–जिनकी 'कुमुदिनी के फूल' की चित्र मलिका से वस्तु निरपेक्ष कलाकारों को काफी प्रेरणा मिली थी, की जीवन की एक घटना विचारणीय हैं। जब मोने की प्रिय पत्नी मृत्यु–शैय्या पर थी और वे समीप बैठकर पत्नी के मुख–मण्डल पर बदल रहे रंगों को गौर से देख रहे थे, तब उन्होंने अकस्मात भयभीत होकर अनुभव किया कि वे रंग–सौन्दर्य के इतने गुलाम हो गये थे कि अपनी पत्नी की गिरती हुई, अन्तकालीन अवस्था को भी भूल गये थे।

कला का आधार इन्द्रिय–संवेदन ही है, जो प्रकृति की प्रकृति की अपेक्षा करते है। पर इन संवेदनों को मानवीय चेतना जो रूप प्रदान करती है, वह न इस कारण वस्तुगत ही कहे जा सकते है और न नितान्त आत्मगत ही। यह इन दोनों के मध्यस्थ क्षेत्र से सम्बन्धित है और इन रूपों को विशिष्टता इस बात में है कि पुनः इन्हें रूपों में दोहराया नहीं जा सकता है। इस दृष्टि से उनकी आन्तरिक एकता एवं समग्रता नितान्त वैयक्तिक है, क्योंकि अनुभूति एवं सृजन के उस पल–विशेष में कलाकार की निजी दृष्टि अपनी सम्पूर्ण जीवन्तता के साथ मूर्तमान होती है, जिसे वह कला के किसी एक विशिष्ट माध्यम से पार्थिव रूप प्रदान करती है।

सौन्दर्य–मूल्य अथवा सौन्दर्यात्मक मूल्य का तत्व–विश्लेषण करते हुए 'सेंटायना' ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'दि सेन्स ऑफ ब्यूटी' में उसके तीन स्तरों का उल्लेख किया है। 1. भौतिक मूल्य अर्थात् सौन्दर्य के माध्यम उपकरण का पदार्थगत मूल्य 2. रूपात्मक मूल्य सौन्दर्य के मूर्त रूप (कृति) की रचना प्रविधि या शिल्प का मूल्य और 3. साहचर्य परक मूल्य– अर्थात् कथ्य या विषय वस्तु का मूल्य। इस तीनों की अवधारणाओं के संयोग से सौन्दर्य–मूल्य की अवधारणा का निर्माण होता है। यह स्तर–भेद केवल व्यावहारिक दृष्टि से ही ग्राह्य एवं उपयोगी है, तत्व–दृष्टि से इसे यथावत् स्वीकार नहीं किया जा सकता क्योंकि एक अखण्ड तत्व अथवा खण्ड चेतना है।

अन्तर्बोध यानी सर्जनात्मक अभिव्यंजना का न तो उपयोगिता से और न ही नैतिकता से कोई अपरोक्ष सम्बन्ध है, क्योंकि दोनों ही व्यावहारिक क्रिया से सुनिश्चित परस्पर सम्बद्ध आयाम है। पर इसी के साथ यह नहीं कहा जा सकता है कि व्यवहारिक क्रिया का अन्तर्बोध से कोई सम्बन्ध नहीं, वस्तुतः जो मूल है, वह सभी बाद में आने वाली क्रियाओं से जुड़ा होने के कारण उन्हें भीतर से प्रभावित करता है। अतः पृथक होते हुए भी ये सभी अन्तर्बोध से केवल जुड़े ही नहीं है, बल्कि उस पर अपनी उच्चता एवं सफलता के लिए निर्भर करते हैं। इसे भिन्न प्रकार से व्यक्त करते हुए यह कहा जा सकता है कि व्यक्ति उसी अनुपात में किसी भी क्षेत्र में श्रेष्ठता प्राप्त करता है, जिस अनुपात में वह 'अन्तर्बोध' की श्रेष्ठता रखता है।

'कान्ट' ने (1724–1804 ई0) सौन्दर्य के सम्बन्ध में विशुद्ध रूप से आध्यात्मिक दृष्टिकोण अपनाया है। कला का धर्म (लक्ष्य) ऐन्द्रिय परिवेश में सत्य को दिग्दर्शित करना होता है अर्थात् जड़ में चैतन्य की

अभिव्यक्ति, कला ऐन्द्रीय और आध्यात्मिक तत्वों का समन्वय है। उदाहरणस्वरूप– सन्त चित्रकार क्षितीन्द्र नाथ मजूमदार की कृति इसका जीवन्त प्रमाण है।

कलात्मक सर्जना में चेतना अपने में प्राकृतिक तत्वों का पूर्णतः आत्मसात् करने की योग्यता विकसित कर लेती है। ये तत्व उसके अधीन, उससे शासित उसके आगे पूर्णतः समर्पित दिखायी देते है। 'रवीन्द्रनाथ टैगोर' आध्यत्मिक सत्ता में विश्वास करते है। उनके अनुसार कोई अलौकिक शक्ति ब्रह्मा या ईश्वर अवश्य है, जो इस जगत का नियन्त्रण करती है।

'रवीन्द्रनाथ' का चिन्तन पौराणिक आख्यानों पर आधारित है। आध्यात्मिक चिन्तन सौन्दर्य का एक अंग माना गया है। इनकी तुलना वर्ड्सवर्थ से की जाती है। 'वर्ड्सवर्थ' के समान ही 'रवीन्द्रनाथ टैगोर' भी प्रकृति में वाह्य व सौन्दर्य का दर्शन करते हैं तथा दोनों को एक–दूसरे का पर्याय मानते हैं। प्रकृति के परिवेश में ये ईश्वर के दर्शन करते हैं।

चित्र संख्या 1– सन्त चित्रकार क्षितीन्द्र नाथ मजूमदार की कृति

चित्र संख्या 2– समकालीन चित्रकार विजय कुमार धन प्रजापति की कृति

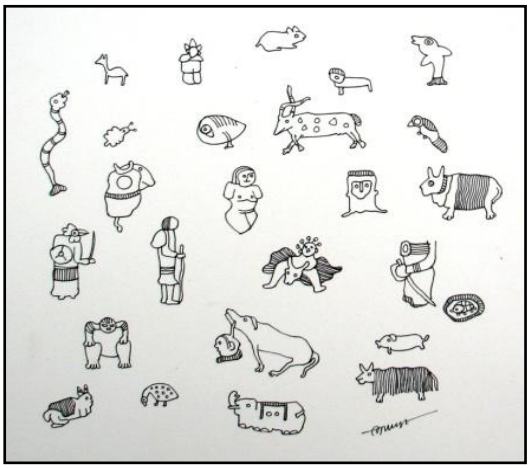

सौन्दर्य का स्वरूप निश्चित करते हुए 'रवीन्द्रनाथ टैगोर' ने सौन्दर्य को एक ऐसी शक्ति माना है, जो सजीव है और हमारे मन को प्रभावित करती है। सौन्दर्य की अभिव्यक्ति चित्रकला में व्याप्त हो जाती है, जब चित्रकार स्वत्रंत रूप से सृजन प्रारम्भ करता है। पश्चिम और भारतीय शैलियों में चित्रकला में आध्यात्म, सौन्दर्य के गुण तो दिखायी देते है, लेकिन समय की परिपाटी ने चित्रकला में आध्यात्म व सौन्दर्य को कुछ हद तक प्रभावित किया है। यहाँ कहना अतिश्योक्ति नहीं होगा कि भारतीय लोक कला पूर्ण से स्वत्रंत थी और वर्तमान समय में है भी। यह स्वतंत्रता यही तक सीमित नहीं है, बल्कि भारत में निवासरत अनेकों जनजातियों की कलाओं में भी यह दिखायी देती है। जहाँ पूर्ण रूप से चित्रकला में चित्र लिखने वाला चित्रकार अपने आप को पूर्ण रूप से समर्पित कर उस आध्यात्म को प्राप्त करता है, जहाँ चित्र स्वंय सौन्दर्य परक सिद्ध हो जाता है, चाहे वह चित्र शास्त्रीय नियमों पर भले ही आधारित न हो, लेकिन चित्र समाज व परिवेश को आनन्द में भाव–विभोर कर देता है। यहीं वह समय होता है, जब दर्शक भी चित्रकला में आध्यात्म के सौन्दर्य को देखता है।

समकालीन चित्रकार विजय कुमार धन प्रजापति की कृति सैन्धव घाटी सभ्यता के प्रतीक चिन्हों से गुजरते हुए जनजातियों के चित्र में समा गया है। जिसने एक अपनी निजत्व शैली का विकास पूर्वाग्रह के चित्रण परम्परा को आत्मसात करके सृजित किया है। विजय की कृति उस सौन्दर्य की अभिव्यक्ति कराती है, जहाँ आध्यात्म और निजत्व लाइनिज्म दर्शक के मन में उद्वेलित स्वर को जन्म दे देती है। दर्शक उसी लाइनिज्म शैली (रेखाओं का सुदृढ़ प्रयोग) में आनन्द की अनुभूति करता है। चित्रकार अपनी चेतन शक्ति को एकाग्रचित्त करके रेखाओं के द्वारा उस परम अदृश्य शक्ति की कल्पना कर चित्र को एक नया रूप प्रदान किया है।

निष्कर्ष

जीवन के आन्तरिक रहस्य के ज्ञाता व आत्मिक जीवन के मार्गदर्शक के रूप में जनता के हृदय में सन्तों व ऋषि–मुनियों का स्थान राजाओं से अधिक श्रेष्ठ व सर्वोच्च रहा है, फिर भी जनता के भौतिक जीवन के सुचारू संचालन के लिये राजा या शासकों का होना अनिवार्य है। उसी तरह आत्मिक जीवन श्रेष्ठतर होते हुए भौतिक जीवन का सम्पूर्ण परित्याग असम्भव होने से मानव के भौतिक जीवन से जुड़े क्रिया–कलापों को सुरुचि पूर्ण, उपयुक्त व आकर्षक बनाने के लिये कला का होना अनिवार्य है। कला साधना की गहराई तक पहुँचने पर आध्यात्मिक प्रवृत्ति के कलाकार का इस बात पर दृढ़ विश्वास होता है कि अन्ततः निराकार के अनुभव में तादात्म्य होना ही साकार कला का अन्तिम साध्य है। कलाकार शिल्पी अपने चित्त या ध्यान की शक्ति से कला रूपों का विचार करता है। रसिक, सहृदय या विलक्षण अध्यात्म सुख के लिए रूपों के अर्थ की जानकारी प्राप्त

करता है। जनसाधरण की सहजोम्स्फूर्त, चैतन्यपूर्ण कला उनके स्वाभाविक सामाजिक वातावरण के अन्तर्गत अनुभव करना एक अनोखी सौन्दर्यानुभूति प्रदान करता है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. *अभिज्ञानशाकुन्तलम्– षष्ठोऽक्ङ (6–14,15,16,17।*
2. *शिल्परत्नम*
3. *अभिधर्म कोश।*
4. *उज्जवलनील मणि।*
5. *शिव–स्वरूपविमर्शिनी।*
6. *समरांगणसूत्रधार।*
7. *नीतिशतक।*
8. *मध्यम कण्डिका।*
9. *प्रश्नोपनिषद।*
10. *दिव्यावदान, पृष्ठ– 221।*
11. *कुमार, विमल– सौन्दर्यशास्त्र के तत्व, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1998।*
12. *चतुर्वेदी, डॉ0 ममता– सौन्दर्यशास्त्र (कलात्मक विवेचन), राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर (राजस्थान), 1997।*
13. *डॉ0 नगेन्द्र– भारतीय सौन्दर्यशास्त्र की भूमिका – नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 1993।*
14. *वाजपेयी, डॉ राजेन्द्र– सौन्दर्य, मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल (म0प्र0) 2004।*
15. *सक्सैना, डॉ0 लक्ष्मी– सौन्दर्यशास्त्र (एक तत्व मीमांसीय अध्ययन), निदेशक, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, 2002।*
16. *पाण्डे, डॉ0 गोविन्द चन्द्र– बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, निदेशक, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, 1963।*
17. *श्रीवास्तव, कृष्ण चन्द्र– प्राचीन भारत का इतिहास तथा संस्कृति, यूनाइटेड बुक डिपो, इलाहाबाद– 2015।*
18. *अग्रवाल, वासुदेवशरण– भारतीय कला, पृथिवी प्रकाशन, वाराणसी–2004।*
19. *साखलकर, र0वि0– कला के अन्तदर्शन, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर (राजस्थान) 2008।*
20. *अग्रवाल, डॉ0 श्याम बिहारी– भारतीय चित्रकला का इतिहास (प्राचीन), रूप शिल्प प्रकाशन, इलाहाबाद, 1996।*
21. *साक्षात्कार– डॉ. श्याम बिहारी अग्रवाल से।*